पथिक पाथेय
(द्वितीय भाग)

लेखक
साधु वेश में एक पथिक

प्रकाशक
स्मृति शेष श्री संतराम सूरी नाम रूप में प्रकाशित
पुण्य आत्मा की पावन स्मृति में

मुद्रक
ज्ञान सिक्योर्टिी प्रेस प्रा0 लि0
बी0एन0 रोड चौलक्खी लखनऊ।

प्रथम संस्करण 10,000

कार्तिक पूर्णिमा
नवम्बर 1990

मूल्यः 6.00 रू0

प्रार्थना

हे नाथ अब तो ऐसी दया हो जीवन निरर्थक जाने न पाये।
ये मन न जाने क्या–क्या दिखाये, कुछ बन न पाया मेरे बनाये।।

संसार में ही आसक्त रहकर दिन रात अपने मतलब की कह कर।
सुख के लिए लाखों दुःख सहकर ये दिन अभी तक यों ही बिताये।।

ऐसा जगा दो फिर सो न जाऊँ अपने को निष्काम प्रेमी बनाऊँ।
मैं आपको चाहूँ और पाऊँ, संसार का कुछ भय रह न जाये।।

वह योग्यता दो सत्कर्म कर लूँ अपने हृदय में सद्भाव भर लूँ।
नर तन है साधन भव सिंधु तर लूँ, ऐसा समय फिर आये न आये।।

हे प्रभु हमें निराभिमानी बना दो, दारिद्रय हर लो दानी बना दें।
आनन्दमय विज्ञानी बना दो, मैं हूँ पथिक यह आशा लगाये।।

सन्त–वचन–उत्कट प्यास ही प्रार्थना है। निराश होने के पश्चात् पूर्ण मौन ही एकमात्र प्रार्थना है। जब करने को शक्ति नहीं रह जाती तब प्रार्थना होने लगती है प्रार्थना क्रिया नहीं, अवस्था है।

संत के वाक्यों द्वारा हम साधकों को यह समक्ष लेना चाहिये कि हम कष्टों दुखों को कैसे पार कर सकते हैं।

हम सभी साधक किस प्रकार भले होकर भलाई कर सकते हैं।

हम सभी को सद्बुद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है।

सभी प्राणियों को हम कैसे प्रसन्न रख सकते हैं।

दुर्जन भी कैसे सज्जन बन सकते हैं।

सज्जन कितनी सरलता से शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

शान्त लोग किस प्रकार बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं।

मुक्त पुरूष किस प्रकार औरों को करूणित होकर मुक्ति की युक्ति समझा सकते हैं।

मूढ़ता का अन्त

संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो स्वतंत्रता नहीं चाहता। मनुष्य ही नहीं, पशु–पक्षी आदि प्रत्येक जन्तु को स्वतंत्रता प्रिय है, परन्तु मूढ़ता के कारण ही परतंत्र रह कर वह जन्म–मृत्यु के द्वन्द में पड़ा हुआ है। तत्त्ववेत्ता अष्टावक्र ने जनक को समझाया था :–

न शान्ति लभते मूढो—मूढ़ व्यक्ति कभी शांति नहीं पाते, वे मढ़ व्यक्ति सुख की कामना में सारा जीवन बिता कर अन्त में दुखी होते हैं।

कोई विचारवान विवेकी देख सकता है कि मूढ़तावश जिन्हें जो कुछ नहीं मिला है उसके लिए रो रहे हैं। वे आरम्भ में रो रहे हैं, दुःखी हैं और जिन्हें बहुत कुछ मिला है वे अन्त में दुःखी होकर रो रहे हैं।

जो नहीं है उसे पाने की चिन्ता रहती है और जो मिल गया है उसे बचाने की चिंता रहती है। मूढ़ व्यक्ति चिन्ता से, भय से, अशांति से, दुःख से बच ही नहीं पाता। लाखों मूढ़ लोगों को अपने मन की मूढ़ता का पता नहीं रहता।

मढ़ और मूर्ख शब्द का प्रयोग बालक भी करते हैं परन्तु भावार्थ कोई विद्वान वयस्क ही जानते हैं। भगवान कृष्ण ने भी सावधान किया है—

विमूढ़ामानपश्यन्ति विमूढ़ जन नहीं जोनते।

जो मूढ़ नहीं है वही मेरे को जानते हैं। (गी015/10—19)

जो विद्वान मूढ़ता का अन्त करना चाहते हैं वे अपने लिए सावधान होकर समझ लें कि मन अपनी मान्यताओं में जब तक अटका रहता है, मानी हुई स्वीकृतियों को जब तक मिथ्या समझ कर छोड़ नहीं पाता है तब तक वह मूढ़ ही है।

मूढ़ता का अन्त हुए बिना बुद्धि में विवेक जाग्रत नहीं होता।

मन की मूढ़ता के कारण मनोमय अहंकार मोहमयी मदिरा के प्रभाव से उन्मत्त रहता है।

(पीत्वा मोहमयी प्रमाद मदिरामुन्मत्त भूतं जगत)

कोई मनुष्य चरस, गांजा, भांग, शराब आदि का सेवन करता है। उसका नशा तो कुछ देर में उतर जाता है लेकिन जिसे कुल का मद, धन का मद, रूप का मद, विद्या का मद तथा पदाधिकार का मद, समाज में किसी प्रकार की श्रेष्ठता का मद चढ़ा होता है वह तो जीवन भर चढ़ा रहता है।

किसी प्रकार के मद से बुद्धि जब मूर्छित रहती है तब मन की मूढ़ता का ज्ञान नहीं होता। सारी धरती ऐसे मूझ़ मनुष्यों से भरी है इसीलिए मानव समाज सुख, समृद्धि, सुविधा का उपभोग करते हुए भयातुर है, चिन्तित है, अशान्त है, आतंक से पीड़ित है। अध्यात्म विज्ञान दर्शन के मतानुसार आज जो हमारे साथ मन है, यह लाखों जन्मों से चेतना के साथ चला आ रहा है। हमारे साथ बुद्धि में जैसे—जैसे चेतना जागृत हो रही है वैसे—वैसे हम बुद्धि—विकास के क्रमानुसार ज्ञान—प्रकाश के द्वारा मन की मूढ़ता को देख सकते हैं और प्राप्त शक्ति द्वारा विद्या—विवेक का आश्रय लेकर मूढ़ता का अन्त कर सकते हैं।

जिस शक्ति से हम अपने मूढ़ के अगणित संकल्प पूर्ण करते आये हैं उसी शक्ति से अब हम मूढ़ता के अन्त करने का संकल्प पूर्ण कर सकते हैं और सभी प्रकार के संकल्पों का त्याग कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर नित्य आनन्द की अनुभूति के अधिकारी हो सकते हैं — यह हमारे सामने गुरू निर्णय है।

हम अपमान से दुःखी होते हैं क्योंकि अभिमान है। मान की चाह है। हम प्रिय के वियोग से दुःखी होते हैं क्योंकि मोह है। संयोग की चाह है।

हम हानि से दुःखी होते हैं क्योंकि लोभ है। लाभ की चाह है।

हम कुछ न पाने से दुःखी हैं क्योंकि उसकी वासना है। सुख–भोग की चाह है।

जो न चाहते हुए आ ही जाता है उसी को दुःख कहते हैं। जो चाहते हुए चला जाता है उसी को सुख कहते हैं। जिसका आना निश्चित है उसका भय व्यर्थ है।

जिसका जाना निश्चित है उसका लालच व्यर्थ है। जो ज्ञान में दीखता है वही सत्चेतन है और जो कुछ भी दीखता है वह असत् है झूठ है। जिसकी बुद्धि, बल मद, विद्या मद, धन मद अथवा किसी प्रकार के मदाभिमान से मूर्छित है उसे ही मूर्ख माना गया है। चाहे वह गृहस्थ हो, या सन्यासी हो, तपस्वी हो या त्यागी हो।

जो धन से, तन से, परिवार से या किसी पदाधिकार से बँधा है वह बन्धन में है। जो अपने से भिन्न वस्तु, व्यक्ति आदि में सुख मानता है वही पराधीन है। गृहस्थ है। पराधीन व्यक्ति, सन्यासी भक्त मुक्त नहीं हो पाता। जो मन की मान्यताओं से मूढ़ता, मूर्खता से मुक्त हो जाता है। वही सच्चा सन्यासी है, त्यागी है। वेश बनाने से कोई त्यागी सन्यासी बन जाता है परन्तु हो नहीं पाता।

अहं के ऊपर किसी आकार का, मान्यता का बोझा न रहे तभी सन्यासी। अपना कुछ न दिखाई दे, अभिमानरहित हो जाय वही त्यागी।

इच्छा–वासना का ढेर मन है। मन न रहे तभी त्यागी सन्यासी होता है। जो अपना नहीं है, अपना स्वतंत्र अधिकार नहीं है उसे अपना मानते ही मोह–लोभ की बेड़ियाँ पड़ जाती हैं। तभी सुखासक्त भोगी को दुःख भोगा पड़ता है।

जो बधन–दुःखों से मुक्त रहता है वही ज्ञानी सन्यासी है। पूर्ण समर्पण सन्यास है। सन्यासी वही है जो शांत, मौन,असहाय होकर अदृश्य सत्ता के विधान में अपने को सौंप देता है तभी विराट् से सम्बन्ध हो जाता है उसके शरीर की पूर्ति संसार द्वारा होती है, वह स्वयं सत्य में सुरक्षित रहता है।

संत–संग से समझ में आ रहा है कि जो हम नहीं हैं वह बने रहने में पीड़ा है, दुःख है। स्वयं में होना ही स्वस्थ रहा है वही विश्राम है।

स्वयं में ठहरते ही शांति है तभी सत्य का बोध है।

कर्म रहे कर्ता न रहे – यही अकर्म है। प्रभु समर्पित कर्म, अकर्म है।

गुरू ज्ञान में बुद्धि दृष्टि द्वारा दिखाया गया कि यह तो सौभाग्य की बात है कि, तुम रामायण का या गुरू ग्रंथ साहिब का अथवा गीता का अपनी मान्यता अनुसार नित्य पाठ करते हो या कुछ घण्टे अथवा सात दिन या नौ दिन अथवा मासिक पाठ करते हो, अखण्ड कीर्तन करते हो या कोई अभिषेक पूजन करते हो। यह सब शुभ कर्म है और साथ में दान देते हो, साधु–ब्राह्मणों को भोजन कराते हो, दक्षिणा देते हो तब शुभ कर्म के साथ ही पुण्य कर्म है।

प्रायः किसी प्रकार शुभ कर्म अथवा पुण्य कर्म करते हुए उसे पापा कृत्य से बचाने का ज्ञान–ध्यान अच्छे शिक्षित लोगों को ही रहता है।

मुझे भूमि, भवन, धन, वस्तु, आभूषण तथा जूता, घड़ी, छाता, अटैची आदि सामान की सुरक्षा की विधि का ज्ञान है, इसी प्रकार पुण्यकर्मों को पाप से बचाने का

विवेक होना चाहिए। किसी फल की कामना न रख कर ऐसी निष्काम सेवा करो जिससे दूसरों का हित हो, उनका दुःख मिटे, कष्ट करे, यही धर्म कर्म है।

प्रायः देखने में आता है कि अनेक नगरों में कुछ भावुक जन अपने घरों में रामायण का अखण्ड पाठ चौबीस घण्टे अपना समय निश्चित करके बारी–बारी से समाप्त करते हैं। यह तो बहुत ही शुभ, सुन्दर है, परन्तु जब माइक (ध्वनिप्रसारक यंत्र) लगाते हैं, रात भर पड़ोसियों को परेशानी होती है, किसी–किसी को नींद नहीं आती है यही पाप बन जाता है। दिन में माइक की ध्वनि से इतनी बाधा नहीं होती, रात को बहुत लोग पसंद नहीं करते।

कभी कहीं पढ़ा था – दूसरों से सुख चाहना अधर्म है। अब समझ में आया कि भगवान ने ही कहा है 'ममैवांशे जीव लोके' जीव मेरा अंश है और भगवान अविनाशी है, पूर्ण धर्म, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति आदि पूर्ण ही पूर्ण है, पूर्ण आनन्द है। ऐसे पूर्ण भगवान के होकर जब हम किसी वस्तु, व्यक्ति से सुख चाहते हैं तब तो अपने पूर्ण परमाश्रय का घोर अनादर है इसीलिए कहा है कि दूसरे से सुख चाहना अधर्म है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।

चेतन अमल सहज सुखराशी।। (रामायण)

जब हम ईश्वर के चिर अंश हैं, अविनाशी हैं, चेतन हैं शुद्ध सुख स्वरूप हैं, तब किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति में सुख मानना अधर्म ही कहा जाएगा।

ज्ञान में न देखना ही अज्ञान है। अज्ञान में ही सारी मान्यताएं जीव के बन्धन का कारण बनती हैं।

————

पाप और पुण्य

जो नित्य है निरन्तर है जिसमें सब है, जो सभी का है सर्वमय है वही अखण्ड अनन्त है, इसे जानना पुण्य है।

जो नित्य निरन्तर परम सत्य है, उसे न जानना पाप है। ज्ञान ही पुण्यस्वरूप है। अज्ञान ही पापरूप है।

ज्ञान में जो कुछ जैसा है वैसा ही जानना देखना पुण्य है। जो नहीं है, उसे है मानना, जो अपना नहीं है, उसे अपना मानते रहना यह अज्ञान ही पाप है।

नित्य परमसत् से जो अहं ज्ञान स्फुरित होता है यही अहं पुण्य–स्वरूप है।

यह अहं ज्ञान जब अपने परमाश्रय सत्य से विमुख होकर जो नित्य सत् नहीं है उस देह से मिलकर देहमय बनकर देह को अपना रूप मान लेता है, यही अहं, आकारमय बन जाता है। अहंकार ही पाप करता है। इसीलिये अहंकार को ही पुण्य संचय की आवश्यकता है, आत्मा को नहीं। अहंकार का परम सत्य से विमुख रहना पाप की दिशा है। अहंकार का सत्य परमात्मा के सम्मुख होना पुण्य की दिशा है।

प्रिय स्वजनों के नामरूप में अथवा जगत के सभी नामों रूपों में ज्ञानस्वरूप अविनाशी चेतन तत्व को ध्यान से देखते रहना परमपुण्य मोक्षद्वार है।

पुण्य कर्म करते हुए तन से वाणी से, तथा मन से किसी प्राणी को अपने सुख–लाभ के लिए कष्ट देना, दुःख पहुँचाना पतनकारी पाप है।

पुण्य कर्म करते हुए अर्थात् यज्ञ, कर्म, दान, सेवा करते हुए एवं जप, कीर्तन, पाठ, अर्चन, वन्दना, प्रार्थना, स्तुति करते हुए अपने समीपस्थ जनों अथवा आस–पास के लोगों की सुख–सुविधा में एवं उनकी मानी हुई विभिन्न साधना पद्धति में माई (ध्वनिविस्तारक यंत्र) लगाकर विक्षेप न पहुँचाते हुए मधुर मन्द स्वर से अथवा मौन ध्वनि द्वारा अपनी साधना को प्रसन्नता के साथ पूर्ण करना विवेकयुक्त पुण्य की पूर्णता का पथ है।

दान, यज्ञानुष्ठान, जप–कीर्तन, अखण्ड पाठ आदि साधना के पीछे अहंकार को ज्ञान से न देख पाना पाप में, पतन के गर्त में पड़े रहना है।

मैंने इतना अधिक जप पूर्ण किया, मैंने इतना अच्छा जन मह मोहक कीर्तन किया, मैंने इतना अच्छा प्रवचन, व्याख्यान किया कि श्रोता मुग्ध हो गये, मेरी कथा में हजारों नर–नारी तथा बड़े–बड़े धनी पदाधिकारी एकत्रित होते हैं – ऐसा विचार करना ही अहंकार का भोग है। भोगी अहंकार ही सत्य विमुख रहकर असत् अनित्य सुख के गर्त में पतित होकर सुख के अन्त में दुःख भोगता है।

सन्त सद्गुरू सावधान करते हैं कि तुम जो कुछ भी शुभ कर्म, पुण्य कर्म अथवा सर्वहितकारी धर्म का पालन करते हो, इन सबके पीछे परम प्रभु की कृपा से होते हुए देखो। अहंकार को कर्ता न बनने दो।

गीता के वचन स्मरण रखो :–

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ता हमिति मन्यते।।

अहंकारों में अटका हुआ विशेष मूढ़ अहंकार अपने को कर्ता मान लेता है। यही पतनकारी पाप का कुचक्र है।

जीवन में विनाशी (सदा न रहने वाले) सामान को, धन, भूमि, भवन को तथा दूसरों के वैभव, ऐश्वर्य पदाधिकार आदि को देखकर, सब कुछ पाने के लोभवश, दान, यज्ञ, तप, जप–कीर्तन, पूजा–पाठ आदि किसी प्रकार के शुीा कर्म, पुण्य कर्म करते रहना और पुण्य के प्रताप से संसार में सब कुछ प्राप्त करते हुए उनका भोगी बने रहना ही पतन की दिशा अर्थात् पाप की दिशा है।

विनाशी वस्तुओं, व्यक्तियों के मनन में लगे हुए मन को तथा इन्हीं के चिन्तन में व्यस्त चित्त को, एवं विनाशी पदार्थों के मोह रूपी दल–दल में सनी हुई बुद्धि को और इन्हीं में तन्मय अहंकार को शुद्ध करने के लिए सत् चेतन आनन्द स्वरूप परमात्मा में ध्यान को स्थिर करते रहना परम उत्थान की परम पुण्य की दिशा है।

संसार के विनाशी नाम रूपों में ध्यान का लगा रहना तथा ज्ञान में विनाशी नाम रूपों को भरे रहना पाप की अर्थात् पतन की परिधि है, पाप का ही कुचक्र है।

सत् परमात्मा, शिव के नित्य योग की अनुभूति का संकल्प परमपुण्य की दिशा है।

धन समान संयोग समान पदाधिकार की प्राप्ति का संकल्प पाप की दिशा है।

प्राप्त में सन्तुष्ट रहना, अप्राप्त की कामना का त्याग करते रहना, प्राप्त शाक्ति सम्पत्ति योग्यता द्वारा सेवा करते रहना, विनाशी पदार्थों की सुरक्षा की चिन्ता छोड़ देना पुण्य की दिशा है।

प्राप्त में सन्तुष्ट न रहकर अप्राप्त की कामना करना विनाशी पदार्थों की सुरक्षा के लिए चिंतित रहना पाप की दिशा है।

ज्ञान स्वरूप में अर्थात् चेतन में जड़ देह को अपनी स्वीकार कर देहमय बन जाना – यही जड़ चेतन की गाँठ है। इस ग्रन्थि को न खोलना प्रत्युत लगी रहने देना पाप की दिशा है।

इस जड़ ग्रन्थि को ज्ञान में रेखते हुए अपने चेतन स्वरूप में बुद्धि को स्थिर करना, पुण्य की दिशा है।

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।

यद्यपि मृषा छूटत कठिनई।। (रामायण)

मन की कामनाओं, इच्छाओं की पूर्ति के परिणाम को देखने वाली बुद्धि से विचार न करना, मन के पीछे बुद्धि को लगाये रहना अधर्म है।

जिस विद्या द्वारा नित्य विद्यमान सत्चेतन सत्ता को जाना जाता है, उस विद्या को विनाशी पदार्थों की प्राप्ति के लिए लगाये रहना अधर्म है।

जो नित्य, निरन्तर अभी यहीं है, इस सत्य से विमुख रहकर अनित्य को सत्य मानते रहना अधर्म है।

परमार्थ सिद्धि की साधना में अथवा सेवाव्रत एवं त्याग में विघ्न डालने वाले के प्रति शान्त समस्थित न रहकर क्रोध करते हुए अशान्त होना अधर्म है।

प्राप्त शक्ति सम्पत्ति योग्यता द्वारा दूसरों का हित न करके मन की वासनापूर्ति में लगाते रहना धर्म विरूद्ध प्रवृत्ति है।

प्रारब्धानुसार दैवी विधान से किसी प्रकार की प्रतिकूलता में, आकस्मिक हानि में या वियोग में, अपमान में धैर्य के साथ कर्तव्यपालन न करना अधर्म है।

अपनी व्यक्तिगत सुख–सुविधा में मूर्खतावश बाधा डालने वाले के प्रति क्षमा न करके क्रोध करना अधर्म है।

विषयासक्तवश सुखलोलुप मन को बस में न रखकर भोगी बने रहना अधर्म है।

लोभवश किसी के अधिकार की वस्तु को बिना माँगे लेना, चोरी करना, किसी के एकान्त में होने वाले कृत्य को छिपकर देखना, झाँकना, छलपूर्वक न देखने योग्य को देखना चोरी रूप अधर्म है।

दूसरों की दृष्टि में जो विकार दोष मल, घृणा उत्पन्न करता है उसे नहीं हटाना तथा सर्वागों को शु्द्ध नहीं रखना, मन को विकारी बने रहने देना अधर्म है।

इन्द्रियों को अपने वश में न रखकर विषयासक्त एवं विषय सुख लोलुप बनाये रखना अधर्म है।

संतोष ही परम लाभ है। सन्तोष हो तो आत्मज्ञान में ही संतसंग से ही परमगति है। आत्मा ही सत्य है।

विचार करने पर ही परमज्ञान है। विचार हो तो सदात्मा को लेकर शान्त रहने में ही परम सुख है; आत्म चेतन में ही शान्ति है।

चिन्मात्र ज्योतिषा सर्वः सर्वदेहेषु बुद्धयः।

त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान्।।

वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योतिप्रकाशक मायान्धकार से परे कहा जाता है। वह बोध स्वरूप जानने योग्य तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला सबके हृदय में स्थित है।

जो पदार्थों की नीरसता को जानकर पुनः पदार्थों को चाहता है वह दुर्बुद्धि, पुरूष नही पशु है।

परम गुरू भगवान् का निर्णय है कि संसार में सब प्राणी रागद्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों के मोह से सम्मोहित हैं, इसी से वे जन्म–मरण के चक्र में पड़ते हैं।

तत्ववित सन्त ने हमें समझाया कि तुम अपनी मान्यतानुसार जो भजन करते हो, जो पुण्य करते हो वह पापा से दूषित हो जाता है। इसीलिए संयोग–वियोग; लाभ–हानि, मान–अपमान आदि द्वन्द्वों के भाव–भजन, भगवान तक नहीं पहुँचा पाता।

तुम्हारी साधनाा सांसारिक इच्छाओं के पीछे और द्वेष के पीछे खण्डित हो जाती है। तुम कुछ पाना चाहते हो और कुछ हटाना चाहते हो, इसी द्वन्द्वयुद्ध में प्राप्त शक्ति खर्च होती रहती है। तुम्हारा ज्ञान विनाशी पदार्थों से सम्बन्धित है। तुम्हारी प्रीति नश्वर संयोगों के सुखोपभोग में लगी है। तुम्हारे पुण्य कर्म पाप प्रवृत्तियों से नष्ट–भ्रष्ट होते रहते हैं, तुम्हारी बुद्धि इच्छाओं से ढकी है।

अब तुम ऐसा विवेक प्राप्त करो जिससे प्राप्त शक्ति को तथा नित्य सुलभ ज्ञान को एवं प्रीति को व्यर्थ–अनर्थ से बचाकर सार्थक पुण्य कर्मों में लगा सको। ज्ञान को विनाशी पदार्थों से मुक्त कर लो और प्रीति को सत्य आत्मा में स्थिर कर लो।

सन्त कहते हैं कि यदि तुम्हें सुखोपभोग के अन्त में निश्चित दुःख नहीं भोगना है तब तो तुम भजन में लग जाओं लेकिन भजन तभी पूर्ण होगा जब पापों से पुण्य को बचा सकोगे। भगवान् ने कहा है :

परमगुरू भगवान् का निर्णय है कि पुण्य कर्मों के आचरण करने वाले जिन पुरूषों के पाप नष्ट हो गये हैं, रागद्वेष, हर्षशोकादि द्वन्द्व रूप मोह से जो मुक्त रहते हैं (अर्थात् जिनके मन में लाभ–हानि, संयोग–वियोग, मान–अपमान का प्रभाव नहीं पड़ता) वही दृढ़ निश्चय सम्पन्न पुरूष मेरे को सब प्रकार से भजते हैं।

हम सुसंस्कार एवं सुसंग से प्रेरित होकर बाल्यावस्था से ही भगवद् नाम जप तथा नाम संकीर्तन करते हुए इसी को भजन मानते थे। कभी–कभी रामायण का चौबीस घण्टे में पाठ पूरा करते थे और कल्पना करते थे कि पड़ोस के लोगों का कल्याण हो रहा है। अहंकार अपनी इस प्रकार पुण्य कृतियों से सन्तुष्ट होता था।

इस गुरूवाक्य ने हमें सावधान किया कि जो कुछ साधन भजन के नाम पर तुम कर्म करते हो इसे पाप से बचाओ।

हमने कथाओं से सुना पढ़ा हैकि यज्ञ दान तप जप अनुष्ठान आदि शुभ कर्म राक्षस, दैत्य, दानव भी करते रहे हैं और वरदान उन्हें भी प्राप्त हुए हैं, परन्तु वे लोग परमात्मा के भक्त नहीं हो सके क्योंकि वे जो कुछ भी करते थे वह अहंकार की ही तृप्ति के लिए करते थे।

आज भी हम संग प्रेरित जप कीर्तन यज्ञानुष्ठान पूजा–पाठ करते हुए गुरूविवेक का आश्रय न लेने के कारण अपने भीतर के पशु को अथवा आसुरी,

राक्षसी, दानवी, वृत्ति को नहीं पहचान पाते क्योंकि हमने गुरू उपासना द्वारा सद्विवेक प्राप्त नहीं किया। इसीलिए कामी, लोभी, मोही, अहंकार ही मन द्वारा सभी प्रकार के पुण्य कर्मों का भोगी बन रहा है, इसीलिए हमें शान्ति मुक्ति भक्ति की प्राप्ति नहीं दीखती, क्योंकि पुण्य के पीछे पापा बनते रहते हैं।

अहंकार को पुण्य कर्मों के पास से धन मान संयोग भाग का सुख तो सुलभ होता है लेकिन भय चिन्ता अशान्ति एवं दुःख का अन्त नहीं होता। जब पाप का अन्त हो जाता है तभी कोई पुण्यात्मा मुक्त भक्त हो पाता है।

भगवत् में कथा सुनने में आती है कि कभी किसी गज को ग्राह ने पकड़ लिया था। उस महाबली गज से और ग्राह से बहुत समय तक युद्ध चलता रहा। अन्त में निर्बल होकर, सब ओर से निराश होकर सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक विष्णु भगवान को गज ने दुखी होकर पुकारा तब उसकी रक्षा हो सकी।

आज इस संसारसागर में रहने वाले भोगासक्त, सुखासक्त अहंकाररूपी हाथी को लोभरूपी ग्राह ने पकड़ लिया है।

लोभ से ही काम–क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। मोह छल गर्व धृष्टता दूसरों का धन ग्रहण करने की इच्छा विद्याहीनता मूर्खता इन सबका मूल लोभ है।

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता युक्ति प्रमाणों द्वारा विवादग्रस्त विषयों की व्याख्या देने वाले भी लोभ से ग्रसित होने के कारण, अधोगति को प्राप्त होते हैं।

जब चित्त केवल आत्मा (चेतनस्वरूप) की ओर क्षण–क्षण लौटता रहता है तभी विशुद्ध सत् तत्व का बोध होता है। जब तक कोई दूसरा है तब तक भय नहीं मिटता। चित्त को ही पुरूष कहा गया है। चित्त ही क्रियाभेद से मन बुद्धि अहंकार हो जाता है।

कोई कहते हैं कि अहंकार–रहित होने से परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं होता प्रत्युत जब जीव ईश्वर के भेद कराने वाली अविद्या निवत्त होती है, तब तत्वतः ज्ञान होता है। यही मोक्ष का स्वरूप है। कोई कहते हैं :–

केवल उसे ही जानना है जो हम हैं और जहाँ हम हैं। अपने को मानते रहना मूढ़ता है, अपने को जानते ही परमात्मा के दर्शानानुभूति का द्वारा खुल जाता है। काम, क्रोधादि के रहते हुए आत्मज्ञान नहीं रहता है।

जब तक अज्ञान से ज्ञान आवृत्त है, ढका है, तब तक भय नहीं मिटता। जब तक भय है भेद है तब तक प्रेमपूर्ण तृप्त रहना यह साधना की सिद्धि है। यह सद्गुरू निर्णय है।

सत् चेतन स्वरूप परमात्मा तो निरन्तर सर्वत्र सर्वकाल में ही है। उसका संयोग या वियोग नहीं होना है। अतः परमात्मा के नित्य योग का स्मरण चिन्तन ध्यान बना रहे यही अभ्यास दृढ़ करना है।

जो नित्य निरन्तर विद्यमान है उसी ऋस्चैतन्य परमात्मा में बुद्धि को स्थिर करो अनुभव करो कि इस तन को मन को बुद्ध अथवा अहंकार को सब ओर से सत्चित आनन्द स्वरूप परमात्मा घेरे हुए है।

सर्वत्र सभी नामरूपों में एक ही परमात्मा का अस्तित्व है। अभी विचार करके समझ लो–चेतना से अधिक अपने निकट अन्य कुछ भी नहीं है। किसी भी अवस्था में चेतन तत्व का संग छूटता ही नहीं।

सावधान रहो—ज्ञानस्वरूप को चेतन को किसी भी पदार्थ से न ढकने दो। जो वर्तमान में नहीं है, उसका स्मरण चिन्तन हटाते रहो।

अपने साथ एक घण्टा बैइने में मन ऊबता है जो दूसरों से चाहता है वह ही निन्दक चित्त है स्वतन्त्र ही अहिंसक होता है।

जिसे सुख की चाह नहीं उसे दुखी बनाने का कोई उपाय नहीं। पशुवृत्तियों से मुक्त होना मानवता है, हिंसा पशुवृत्ति है। सन्त तो इसलिए मार सह लेता है कि और किसी को मारेगा तो मारा जायेगा।

तुम किसी के अपमान को मार को मुद्दई बनकर सह लो उत्तर न दो क्योंकि तुम साधु हो।

किसी को सुख देना उसे दुखी करने की तैयारी है। पूर्ण अहिंसक किसी का कुछ नहीं बनता, सुख के कामी पुरूष दुगना दुख भोगेंगे।

सन्त आनन्द से भरे रहकर आनन्द को फैलाते हैं सुख देने नहीं जाते। दुखी संग खोजता है, आनन्दित असंग रहता है कुछ चाहना शान्ति पाने का मार्ग नहीं है।

सत्य यहीं है जहाँ हम हैं, अन्यत्र नहीं खोजना है। अचाह अप्रयत्न में सत्य मिला हुआ बोध होता है। घड़े का आकार में ही बाहर भीतर के ज्ञान का भेद करता है, हम सब चेतना के सागर में मिट्टी के घड़े हैं।

मालिक बनने की चाह, गुलाम बना देती है।

संसारी व्यक्ति अपने कारागृह की दीवारों को सजाते हैं। जब मैं नहीं था तब जो कुछ था उसका मालिक कैसे हो सकता हूँ। जब मैं नहीं रहूँगा तब भी वस्तुयें रहेंगी।

वृत्ति के प्रथम जो था जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है जिसमें लीन होता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं।

अपनी चेतना ही राममय, कृष्णमय हो जाती है। जीवन को मृत्यु को साक्षी होकर देखो।

कर्ता भाव हटाओ। जो हो रहा है उसे देखते रहो, चेतन सत्ता से सब कुछ हो रहा है, चेतन अहंकार कर्ता भोक्ता बन जाता है।

15 मिनट श्वास को देखते रहो।

अज्ञानी वही जो क्षुद्र की सुरक्षा में व्यस्त रहते हैं। महान् को भूले हैं जहाँ विनाशी वहीं अविनाशी है। जहाँ जड़ है वहीं चित् सत्ता है। जहाँ क्षणिक है वहीं शाश्वत है।

जो अपने अहंकार को मिटा दे फिर उसे कोई मिटा नहीं सकता। निर्विकार निर्विचार होते ही नित्य सत्य का योग है। अतीत भूत को मुर्दे पकड़े रहते हैं, भविष्य की योजना अन्धे बनाते हैं। अखण्ड ज्ञान चेतना विचारों भावों ममता कामना से ढकी रहती है। सब प्राणियों में आत्मा ही हंस है।

विचार की अधिकता में विवेक क्षीण होता है।

स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाना स्वस्थ होना है।

भूत को न छोड़ना बीमार बने रहना है।

अन्य को खोजना पतन है। स्वयं को खोजना उत्थान है। परमात्मा और उसका जो कुछ है वह अनायास ही मिला है। उसका अभिमान बुराई का मूल है।

मुक्ति, शान्ति, भक्ति के लिए सच्ची व्याकुलता होनी चाहिए। व्याकुलता सद्गुरू की कृपा के लिए विवश करती है। कृपा से ही 'स्व' और 'पर' का विवेक होता है।

चार वर्ण श्रेष्ठ हैं उनमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणों में वेदज्ञ श्रेष्ठ है, वेदज्ञों में तात्पर्य का ज्ञाता श्रेष्ठ है, उनमें भी संशयनिवारक श्रेष्ठ है, उनसे भी श्रेष्ठ वर्णाश्रमोचित धर्मपालक है, निरासक्त उनसे भी श्रेष्ठ है तथा उनसे भी श्रेष्ठ सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी एवं सर्वस्व समर्पण करके भेदभाव छोड़कर उपासना करने वाले समदर्शी पुरूष हैं। यह पढ़ते हुए हमें अपना निरीक्षण करना चाहिए कि हम कहाँ पर अटके हैं।

सत्य परमात्मा से तो दूर है ही नहीं, हमने मान लिया है। संसार में अपना स्वतन्त्र अधिकार किसी पर है ही नहीं, हमने अपना सब कुछ मान लिया है, हम स्वयं अपने को मानते चले जाते हैं।

ज्ञान में जान लेने पर ही मानी हुई दूरी से मुक्ति मिलती है, माने हुए सम्बन्धों का बन्धन छूट जाता है।

माने हुए अहं के आकारों में संसार है।

आकार–रहित अहं परमात्मा का योगी है।

अहं भाव की सत्ता से सभी सत्तायें प्रकाशित होती हैं।

एक के आगे सभी शून्य मूल्यवान हैं।

अहं की चेतना तथा अहं आनन्द से अभेद है।

पूर्ण असंगता से ही प्रियतम प्रभु का संग सुलभ होता है। असंगता तो व्याकुलता से आती है।

जो प्रभु की ओर देखता है वही प्रभु को अपनी ओर देखता पाता है।

जिसे अपना जगत में कुछ दीखता ही नहीं, वही अपने को समर्पित पाता है वही कृपा का अधिकारी है।

संसार से विमुख होकर प्रमास्पद को ही चाहना सच्चा भजन है। शरीर को जानो, संसार को जानो, अपने को जानो फिर ईश्वर को जानो। हम जो सुनते हैं बिना वियारे स्वीकार कर लेते हैं। स्वीकृति का ही परिणाम अशान्ति है, दुःख है। मानते हो तो दुखी होगे। जान लो तो सुखी हो जाओ।

परमात्मा करने के आदि में, मध्य में, अन्त में विद्यमान है। कर्ता में ही वह मौजूद है करने से न मिलेगा।

विहाय कामान्यः

शान्ति न खोजो, अशान्ति को जानो।

सुख का अन्त तभी होता है जब इच्छा उत्पन्न होती है। अज्ञान में इच्छा की उत्पत्ति होती है, इच्छा की पूर्ति का संकल्प न करो प्रभु के विधान पर छोड़ दो।

ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है, जो है सब परमात्मा का ही है ऐसा ज्ञान में देखो। सत् परमात्मा निरन्तर उपस्थित है तुम प्रयास में व्यस्त अनुपस्थित हो।

जब मन है तब संसार है, जब मन नहीं तभी उस रिक्त स्थान में सत्य ही पूर्ण है, ध्यान से इस पूर्ण का अनुभव शून्य शान्त होकर करों

जो निरन्तर है इस ''है'' का स्मरण ही तो सत्संग है, विनाशी के प्रकाशक अविनाशी का अनुभव होना सत्संग है।

तुम ध्यान से देखते हुए अपने ज्ञान स्वरूप में परम प्रेमास्पद को पाकर परम तृप्त हो सकते हो।

सन्त समझाते हैं कि मन जब तक प्रीतिपूर्वक तन को सुन्दर मानता है तब तक मोही बना रहता है। धन का प्रभाव मन को लोभी बनाये रहता है। अनुकूल सुख का प्रभाव कामना से मुक्त नहीं होने देता।

सुखोपभोग से प्राप्त का दुरूपयोग होता है। सेवा द्वारा ही प्राप्त का सदुपयोग होता है।

सेवा वही सुन्दर हितकारी है जिससे दोषों का त्याग हो, चित्त में विनाशी से विराग हो, अविनाशी चेतन स्वरूप में अनुराग हो, ऐसी सेवा के लिए गुरू विवेक की आवश्यकता रहती है।

सेवा करते हुए अपने मन का संकल्प नहीं रहना चाहिए। संकल्प पूर्ति का सुख पराधीन बनाता है, इसीलिये सन्त सम्मति है कि जो कुछ करो उससे दूसरों के शुभ संकल्प की पूर्ति होनी चाहिए जिसके संग से कुछ बने हो उसी की पूर्ति में तत्पर रहना सेवा होगी।

जो भोक्ता बनता है वही अभोक्ता हो सकता है, जो कर्ता बनता है वही अकर्ता हो सकता है, जो असत् बनता है वही सत् हो सकता है, जो जड़ बनता है वही नित्य चेतन हो सकता है, जो विकारी बनता है वही निर्विकारी हो सकता है, जो देह बन सकता है वही ब्रह्ममय हो सकता है। अब बार–बार उल्टे लौटकर निश्चय करना है कि मैं नित्य मुक्त हूँ, निरपेक्ष साक्षी हूँ, एकरस तैतन्यस्वरूप हूँ, अक्षर हूँ, केवल आत्मा हूँ, एक हूँ, कला रहित हूँ, निर्मल हूँ, निर्मल हूँ, निरवयव हूँ, अज अविनाशी हूँ, व्यापक विज्ञान स्वरूप हूँ,। शक्कर में मिठास की भाँति सर्व में व्यापक हूँ, जो अनित्य एवं असत् के चिन्तन से असत् अनित्य बन गया है वह सत् नित्य के चिंतन से सत् एवं नित्य हो सकता है।

उपनिषद में कई प्रकार के आनन्दों का वर्णन है सर्वोपरि ब्रह्मानन्द को जो प्राप्त है ऐसे सद्गुरू दर्शकों के लिए जो परम सुखद है।

जो केवल मूर्तिमान ज्ञानस्वरूप है। द्वन्द्वों के प्रभाव से जो मुक्त है। आकाशके समान जो नित्य निर्लिप्त है। तत् त्वं असि जिनका नित्य लक्ष्य है। जो एक अद्वितीय नित्य सत्य में स्थित है। जो मल से रहित है अचल है। सब बुद्धियों का जो साक्षी है। भावों से अतीत है त्रिगुणातीत है। ऐसे ज्ञानस्वरूप गुरू को नमस्कार है।

जब तक सत् तत्त्व का विवेक नहीं होता तब तक अविवेकी श्रद्धालु देह को गुरू और गुरू को देहमय मानता है। बुद्धि शुद्ध होने पर ही ज्ञानस्वरूप गुरू तत्त्व का बोध होता है। परमात्मा ही गुरू तत्त्व है।

जिस प्रकार काँच का बल्ब विद्युत प्रकाश का माध्यम है विद्युत शक्ति काँच के बल्ब से सदा भिन्न है, काँच का पात्र (फ्यूज) टूट जाता है लेकिन विद्युत अपने स्वरूप में नित्य रहती है इसी प्रकार गुरू तत्त्व प्रज्ञा के माध्यम से प्रकाशित होते हुए भी परिवर्तन से नित्य मुक्त रहता है।

विशुद्ध प्रज्ञा बुद्धि में ही गुरू तत्त्व प्रकाशित होता है। किसी देह में प्राणों में, इन्द्रियों में, मन में, त्रिगुणात्मक बुद्धि में, विकार प्रभाव तथा परिवर्तन होता है परन्तु अखण्ड ज्ञानस्वरूप गुरू तत्त्व सदा प्रकृति के प्रभाव से मुक्त रहता है। इस निर्विकार ज्ञानस्वरूप गुरू की उपासना का विवेक श्रद्धालु भक्त को प्राप्त करना सर्वप्रथम आवश्यक है।

धार्मिक ग्रन्थों को अथवा वेदों को शास्त्रों को पढ़ते हुए या पढ़ाते हुए एवं उपदेश सुनते और दूसरों को सुनाते, समझाते हुए लोभ, मोह, अहंकार की कमनापूर्ति में प्रतिकूलता आने पर, कभी धनहानि होने पर या कभी आदर–सम्मान न मिलने पर, ईर्ष्या–द्वेष, कलह–क्रोध के पीछे निन्दा–घृणा में शक्ति नष्ट होती रहती है। उस समय शास्त्रज्ञान भूल जाता है, अनेक पाप अपराध बनते रहते हैं। असंत जनों के संग का प्रभाव इतना प्रबल रहता है कि सन्त–संयोग का प्रभाव नहीं दीखता है। फिर भी संत संयोग होते रहने के कारण अपनी भूल का तथा अपने अहंकारगत दोषों का ज्ञान होता है। पश्चाताप भी होता है और धीरे–धीरे दोषों का त्याग भी सरल बनता जाता है।

यह भी सन्त की सम्मति है कि तुम काम–क्रोधादि से लड़ों नहीं उस समय सावधान रहकर इन्हें देखते रहो। जब तुम इन्हें देखोगे तो तब तुम इनसे भिन्न रहोगे। तब यह न कहोगे कि मैं क्रोधी हूँ, तब यह क्रोध है ऐसा प्रतीत होगा।

यह भी सन्त की सम्मति है कि तुम अपने माने हुए भगवान में मन को नहीं लगा पाते हो तो हठ न करो परन्तु किसी प्रिय या अप्रिय नर या नारी के रूप को ध्यान से हटाते रहो।

यह सद्‌गुरू निर्णय है कि तुम्हारी यात्रा का पथ अगाध सागर से आरम्भ होता है और हिमालय की अविश्रामसाध्य ऊँचाइयों में समाप्त होता है। इसी प्रकार तुम सावधान रहकर समझ लो कि तुम्हारी दिव्यतम चेतना के एक सिरे में घोर जड़त्व लिपटा हुआ है, चेतना का कुछ भाग पशुत्व से घिरा हुआ है, उसी चेतना में मानवता विकसित हो रही है। साथ ही एक स्तर पर दिव्यत्व प्रगट हो रहा है और यही चेतना परमानन्द परमात्मा में पूर्ण हो रही है।

यह ज्ञान–विज्ञान की चर्चा करोड़ों जन नहीं सुन रहे हैं लेकिन तुम सुन रहे हो, पढ़ रहे हो क्योंकि सत्य की जिज्ञासा जाग्रत हो रही है, श्रद्धा सहायक है, कहीं–कहीं अश्रद्धा बाधक भी बन जाती है।

यह स्मरण रहे कि तुम्हारे भीतर जो पशु प्रकृति के लक्षण क्रोधादि के वेग में उमड़ते हैं। सन्त मनानुसार उनसे लड़ने में शक्ति न खोना। अब जब कभी भी क्रोध आये तब अलग जाकर या कमरे में बैठकर कोई गद्दा, तकिया लेकर उसी में क्रोध

प्रकट करना, दीवाल को दबाना, दाँत पीसना, मन ही मन गाली देना। सन्त की बताई युक्ति बहुत सुन्दर है।

किसी सचेतन जीव को कष्ट न दोगे तो पाप से बच जाओगे, प्रतिक्रिया से बच जाओगे, कुछ देर में ईर्ष्या, क्रोध का वेग शान्त हो जायेगा। तब बन्द कमरे में खुशी मनाना, नाचना, हँसना और समझना कि प्रत्याघात सहे बिना शत्रु को अपने घर के भीतर ही जती लिया।

अपने में ही आत्मदेव से नम्रतापूर्वक दीन भाव से प्रार्थना करना कि यह काम, क्रोध, लोभादि दोष नष्ट हो जायें, हमारा ज्ञान, स्वरूप मान्यताओं से मुक्त हो जायें। हमारा प्रेम निष्काम हो जाये।

काम, क्रोध, लोभादि के वेगों को किसी व्यक्ति से सम्बन्धित करके तदनुसार कर्म करने के बाद पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं होता उससे उस दोष की निवृत्ति नहीं होती।

यदि तुम साधु हो तो किसी के क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष के बर्ताव को मुर्दा बनकर सह लो, उत्तर न दो तो तुम्हारे द्वारा नया कर्म न बनेगा और पूर्व कर्म का फल–भोग नष्ट हो जावेगा। सावधान रहकर काम, क्रोधादि वेगों को दृष्टा रहकर देखो।

गुरू ज्ञान में हमें बताया गया है कि जिसे मन से तुम सुनकर मानते हो इसे बुद्धि द्वारा जान लो और प्रज्ञा के जाग्रत होने पर यथार्थ का दर्शन कर सकोगे।

यह मन बहुत हीं रूढ़िवादी है। यह जिसे प्रीतिपूर्वक अपना मान लेता है उसी का मोही बन जाता है। यह मन आदतों का अभ्यासी है, यह कर्म का भी अभ्यासी है। प्रायः गलत जानते हुए भी मन का अभ्यास नहीं छूटता है। यह मन अपनी मान्यता के विपरीत का विरोधी है, भले ही वह यथार्थ सत्य ही क्यों न हो परन्तु मन को अनुकूल नहीं है तब विरोध करेगा। इसीलिए महापुरूष कहते हैं कि तुम सत्य के प्रेमी हो तो इस मोही मन की न मानो और तन की भी न मानो।

तुम ज्ञानस्वरूप चेतन हो इसीलिए तन को, मन को साक्षी रहकर देखते रहो। तुम कहीं कर्ता न बनो।

कर्ता तो अहंकार ही बनता है। कुछ करने को मिलता रहे यही मनोमय अहंकार का भोजन है। मन कुछ किये बिना रह ही नहीं सकता। तुम मन के करने को देखते रहो।

यह गुरू वाक्य याद रखना कि जो कुछ भी दिखाई देता है वह दृष्य है, जो देख रहा है वह दृष्टा है।

सन्त सावधान करते हैं कि यदि तुम्हारी बुद्धि में कुछ भी विवेक जाग्रत है तो पतन की सीमा में पाप का परिणाम दुःख भोगनो के प्रथम ही तुम दुःख को अभी देखो और इस खाल से लिपटी हाड़–माँस की देह को अपनी न मानो। इस देह का अभिमान छोड़ दो, यह क्षण–भंगुर है।

तुत तो विचारपूर्वक वैराग्य के रसिक बनो।

लोकधर्मों को छोड़कर सत् धर्म का सेवन करो।

साधु पुरूष की सेवा में तत्पर रहो।

काम—तृष्णा का त्याग करो।

दूसरों के गुण—दोष का चिन्तन न करो।

मन को सत् कथा में लगाओ।

बुद्धि को असत्, अनित्य पदार्थों के विचार में न फँसने दो। (भा0मा)

मन के पीछे बुद्धि न रखकर बुद्धि के पीछे मन को चलने दो। मन की बात मानो ही नहीं विवेक की मानो।

हजारों लोग भागवत् कथा सुनते हैं। श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार की कथा सुनाई जाती है कि जिससे संसार से वैराग्य हो जाये और सत्यानुराग हो जाये।

सुखोपभोग का कामी, मोही, अभिमानी अहंकार—अविवेकवश पुण्य कर्म को पापा से तब तक नहीं बचा पाता जब तक गुरू उपासना से विवेक—बल नहीं प्राप्त करता।

प्रायः हम पुण्य के सुयोग से श्रद्धालु शिष्य बन जाते हैं लेकिन गुरू की सेवा—उपासना में तत्पर रहकर सद्विवेक प्राप्त न करके स्वयं ही उपदेशक गुरू पद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार के हम साधक साधु जो कुछ भी पुण्य कर्म करते हैं वह सब पाप से ग्रसित होता रहता है परन्तु इसका पता तब चलता है जब प्रभु कृपा से सन्त—संग सुलभ होता है।

सन्त ने समझाया है कि जो कुछ भी पुण्य कर्म करो वह अपने मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार की शुद्धि के लिए करो। पुण्य कर्म को धन लेकर तथा मान लेकर न बेचो। दूसरों से पुण्य कर्म का फल जब तुम नहीं चाहोगे तब तुम्हें किसी को दिखाने की, बताने की अथवा उसके प्रदर्शन की कोई क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। अहंकार कुछ चाहता है तभी प्रगट करता है।

तुम सावधान रहो कि तुम्हारी प्रार्थना से, स्तुति से, पाठ से किसी भी साधना पद्धति से आस—पास के लोगों की सुख—सुविधा में कोई बाधा न हो।

तुम्हारे पुण्य कर्म में तथा साधना पद्धति में या सेवा कार्य में जो व्यक्ति स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हो उसे ही स्वीकार करो, अश्रद्धालु जनों से सावधान रहो।

जगत में जो कुछ भी मिला है उसे अपना मानकर अहंकार को बढ़ाते जाना मुख्य पापा है।

अहंकार को प्रेम में पसीजने देना, पिघलने देना, गलने देना सर्वोपरि पुण्य है। अहंकार को गलाना है तो जो कुछ भी वस्तु, योग्यता, भूमि, भवन, धन, परिवार, अधिकार मिले हैं या आगे मिलने वाले हैं उन्हें अपना न मानो। स्मरण करो कि जिस दाता ने दिया है यह सब उसी का है और मैं भी उसी का हूँ तभी तो दिया है।

मैं जगत के तत्त्वों का बना हुआ नहीं हूँ मैं जिसका हूँ, वह सत् है, नित्य चेतन है और आनन्द है और जब मैं उसी का हूँ, तब जो वह है वही मैं हूँ, मैं असत् नहीं हूँ, जड़ नहीं हूँ, दुःख नहीं हूँ।

अज्ञान में मैंने अपने को जो नहीं हूँ, वह मान लिया है और जो मेरा नहीं है उसे अपना मान लिया है।

गुरू उपदेश से ज्ञात हुआ कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। इस ज्ञान में जिन पदार्थों को स्वीकार कर लिया है उन्हीं से सम्बन्ध हो गया है। पदार्थों को अपना मानने के कारण ही यह अहंकार लोभी, मोही, अभिमानी बन रहा है। इन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा, बुद्धि के द्वारा जो कुछ बाहर से अर्थात संसार से आता है वह धूल की भाँति ज्ञान रूपी प्रकाश को ढक लेता है। ढके हुए ज्ञान से जो भी दिखता है वैसा ही नहीं दिखता जैसा कि है। इसी को भ्रम कहते हैं।

ज्ञान बाहर से नहीं आता वह तो है ही। बाहर से जो आता है उसे बौद्धिक जानकारी कहते हैं। बाहर से विद्या प्राप्त होती है। विद्या के पीछे यदि ज्ञान नहीं होता तो वह विद्या अहंकार के भोग का साधन बन जाती है। विद्या के पीछे जब ज्ञान होता है तब वह नित्य विद्यमान सत्य की अनुभूति का साधन बन जाती है। इसी विद्या द्वारा अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है। संत कहते हैं–

श्रेष्ठ शुद्ध बुद्धि वालों के लिए जप और विद्या द्वारा सर्वोपरि लाभ प्राप्त होता है। तप से समस्त पाप नष्ट होते हैं और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

दोषों के त्याग में, सेवा की पूर्णता में एवं प्रेम की पूर्णता में जो प्रतिकूलताओं का कष्ट–दुःख हो उसे धैर्य से सहन कर लेना तप है। चेतन तत्त्व को एवं मिथ्या के प्रकाशक सत्य ब्रह्म को जिसके द्वारा जाना जाता है, वही विद्या है। परम गुरू वशिष्ठ जी ने भगवान राम को संसार–सागर से पार जाने के लिए चार उपाय बताए हैं –

(1) संतोष (2) संतसंग (3) विचार (4) गम ।

प्रायः हम सभी मनुष्य जन्म लेते ही लाभ के लोभी होते हैं। माता की गोद से खिलौने के लाभ के लिए उतरते हैं और सारी आयु लाभ–लोभवश में बीत जाती है। अंत में देह मरघट में पहुँचाई जाती है लेकिन लोभ से मुक्त नहीं हो पाते।

लोभी की तथा मोही की एवं कामी की, अभिमानी की सुनते हुए और उन्हीं की मानते हुए हम लोभी, मोही, कामी, अभिमानी बन गये। अब किसी पुण्य प्रताप से हम मोह, लोभ, अभिमान से रहित निष्काम तत्त्वज्ञानी परम गुरू के उपदेश को सुन रहे हैं कि संतोष परम लाभ है, संत संग से ही परम गति है। विचार करने पर ही परम ज्ञान की प्राप्ति होती है और शम–शांत होना ही परम सुख है।

प्रथम इनमें से एक ही अभ्यास साध लेने से क्रमशः चारों सुलभ हो जाते हैं। इन चारों को मोक्ष के द्वारपाल बताया गया है –

सोचों किसने क्या पाया, मानव जब जग में आया
आने वालों को देखो, क्या लेकर वह आते हैं
जाने वालों को देखो, क्या संग लेकर जाते हैं
कुछ पुण्य किए या यूँ ही, यह नर तन व्यर्थ गँवाया।।
लोभी को भी देखो, संचय का जिसे व्यसन है
लाखों की सम्पत्ति जोड़ी, पर तृप्त न होता मन है
कौड़ी न साथ जायेगी, फिर किसके लिए कमाया।।
उस कामी को भी देखो, मन भरा या कि रीता है

इच्छाएँ पूरी करते, कितना जीवन बीता है
यह वही काम है जिसने कि–किस को नहीं नचाया।।
उस मोही को भी देखो, सबकी ममता में फूला
निज देह गेह में फँस कर, उस परमेश्वर को भूला
यह मोह दुःखों की जड़ है, इसने किसको नहीं रूलाया।।
उस अभिमानी को भी देखो, यह विभव रहेगा कब तक
उससे भी बढ़ कर जग में, हो गये करोड़ों अब तक
मिट्टी में खोजे कोई, उनकी कंचन सी काया
उसदानी को भी देखो, क्या सुख मिलता देने में
वह क्या जानेंगे इसको, जो पड़े हुए लेने में
इन देने वालों ने ही, है सच्चा लाभ उठाया।।
उस ज्ञानी को भी देखो, जिसको न कहीं कुछ भय है
दिख रहा दृष्टि में उसको, यह विश्व आत्मामय है
जो कोई सन्मुख आया, उसका अज्ञान मिटाया।।
उस प्रेमी को भी देखो, जो प्रियतम में लय होकर
स्वाधीन विचरता जग में, तन–मन की चिन्ता खोकर
वह पथिक धन हैं, जिन पर पड़ जाती इनकी छाया।।

कोई भी पशु–पक्षी जन्तु सुखी–दुःखी होता है तब वह विचार नहीं कर सकता कि सुख–दुःख का कारण क्या है? क्योंकि बुद्धि का विकास नहीं होता। केवल मनुष्य ही ऐसा है जिसमें बुद्धि विकसित हातेती है। प्राणी का मन कैमरे की प्लेट की भाँति अंधकार में चित्र से भर जाता है, वहीं आकार बनता है।

मन द्वारा हम जब तक किसी को सुखद मानते हैं तब तक दुःख से नहीं बच सकते। जब कभी ज्ञान में देखते हुए हम कुछ भी सुखदाता न मानेंगे तब दुःखी नहीं हो सकते, यदि हम दुःखी न हों तो कोई दुःख नहीं हो सकता। अज्ञान सर्वप्रथम पाप है। अज्ञान में हम जिस वस्तु–व्यक्ति के मालिक बन रहे हैं उसकी दासता में मन बद्ध है इसीलिए स्वतंत्रता नहीं मिलती।

ध्यान

घोड़े पर तन सवार है। मन में घोड़ा बैठा है। पहले तन को अलग करो फिर मन से अलग करो। काम, क्रोध, लोभ मोह तुम पर चढ़ेगा, तब तुम इन पर चढ़ोगे, तब इन्हें वश में कर सकोगे, फिर इनसे अलग हो सकोगे।

यस्य ज्ञानविदं विश्वं न दृश्यं भिन्नभेदतः।
सदैक रूप रूपाय तस्मै श्री गुरूवेनमः ।।
चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरंजनं।
नादं बिन्दु कलातीतं तस्मै श्री गुरूवेनमः।।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरूमालितं येन तस्मै श्री गुरूवेनमः।।